

Chapter दस

जड़ भरत तथा महाराज रहुगण की वार्ता

इस अध्याय में भरत महाराज अर्थात् जड़ भरत को सिंधु तथा सौवीर राज्यों के शासक राजा रहुगण ने अंगीकार कर लिया। उस राजा ने जड़ भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए विवश किया और पालकी को ठीक से न उठाने के कारण उसको फटकार लगायी। राजा रहुगण को पालकी ढोने वाले (कहार) की आवश्यकता थी जिसके लिए पालकी ढोनेवालों के मुखिया ने जड़ भरत को अत्यन्त उपयुक्त पाया। अतः उसे पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया। जड़ भरत ने इस आज्ञा का प्रतिवाद नहीं किया, उल्टे वे इसे विनम्रता पूर्वक स्वीकार करके पालकी ढोने लगे। जब वे पालकी उठाये रहते तो वे सतर्क होकर देखते चलते कि उनके पाँव के नीचे एक चींटी तक न आये और जब कोई चींटी दिखती तो वे उसके निकल जाने तक रुके रहते। फलतः वे अन्य कहारों के साथ कदम मिलाकर नहीं चल पाये। इससे पालकी में बैठा राजा अत्यन्त विचलित हुआ और उसने जड़ भरत को भद्दी गाली दी, किन्तु जड़ भरत ने कोई प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि वे देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त थे। वे पालकी उठाये चलते रहे। जब उन्होंने फिर वैसा ही किया, तो राजा ने उसे दण्डित करने की धमकी दी। प्रतिक्रियास्वरूप जड़ भरत बोलने लगे। उन्होंने राजा द्वारा प्रयुक्त गन्दी भाषा का प्रतिवाद किया। जड़ भरत के उपदेश सुनकर राजा को आत्मज्ञान हुआ। ज्ञान आने पर उसने समझा कि उसने एक महान् तथा साधु पुरुष का अपमान किया है। उस समय उसने विनीत भाव से आदरपूर्वक जड़ भरत की प्रार्थना की। तब उसे जड़ भरत द्वारा प्रयुक्त गूढ़ शब्दों के अर्थ जानने की इच्छा हुई और उसने सच्चे दिल से क्षमा-याचना की। उसने स्वीकार किया कि यदि कोई शुद्ध भक्त के चरणकमल की

उपेक्षा करता है, तो वह भगवान् शिव के त्रिशूल द्वारा दण्डित होता है।

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते र्हूगणस्य ब्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये
दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा युवा संहननाङ्गे गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः
सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिबिकां स महानुभावः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; अथ—इस प्रकार; सिन्धु-सौवीर-पतेः—सिन्धु तथा सौवीर राज्यों के शासक के; र्हू-गणस्य—रहूगण नामक राजा के; ब्रजतः—(कपिल के आश्रम) जाते हुए; इक्षु-मत्याः तटे—इक्षुमती के तट पर; तत्-कुल-पतिना—पालकी ढोने वालों के सरदार द्वारा; शिबिका-वाह—पालकीवाहक बनने के लिए; पुरुष-अन्वेषण-समये—आदमी की खोज करते हुए; दैवेन—भाग्य से; उपसादितः—पास गये हुए; सः—वह; द्विज-वरः—ब्राह्मण पुत्र, जड़ भरत; उपलब्धः—प्राप्त; एषः—यह पुरुष; पीवा—अत्यधिक बलिष्ठ; युवा—तरुण; संहनन-अङ्गः—सुगठित अंगों वाला; गो-खर-वत्—बैल या गधे के समान; धुरम्—भार, बोझा; वोढुम्—ले जाने के लिए; अलम्—समर्थ; इति—इस प्रकार सोचते हुए; पूर्व-विष्टि-गृहीतैः—बलपूर्वक काम कराये जाने वाले, बेगारी में पकड़े गये; सह—साथ; गृहीतः—पकड़ा जाकर; प्रसभम्—बलपूर्वक; अ-तत्-अर्हः—पालकी ढोने के अयोग्य होते हुए भी; उवाह—ढोता था; शिबिकाम्—पालकी; सः—वह; महा-अनुभावः—महापुरुष।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले, हे राजन्, इसके बाद सिन्धु तथा सौवीर प्रदेशों का शासक र्हूगण कपिलाश्रम जा रहा था। जब राजा के मुख्य कहार (पालकीवाहक) इक्षुमती के तट पर पहुँचे तो उन्हें एक और कहार की आवश्यकता हुई। अतः वे किसी ऐसे व्यक्ति की खोज करने लगे और दैववश उन्हें जड़ भरत मिल गया। उन्होंने सोचा कि यह तरुण और बलिष्ठ है और इसके अंग-प्रत्यंग सुदृढ़ हैं। यह बैलों तथा गधों के तुल्य बोझा ढोने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा सोचते हुए यद्यपि महात्मा जड़ भरत ऐसे कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे तो भी कहारों ने बिना झिझक के पालकी ढोने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया।

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां र्हूगण उपधार्य
पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; हि—निश्चय ही; द्विज-वरस्य—जड़ भरत का; इषु-मात्र—एक बाण आगे तक (३ फुट); अवलोक-अनुगतेः—देखकर ही चलने से; न समाहिता—मेल न खाता हुआ; पुरुष-गतिः—कहारों की चाल; तदा—उस समय; विषम-गताम्—असंतुलित होने पर; स्व-शिबिकाम्—अपनी पालकी को; र्हूगणः—राजा र्हूगण ने; उपधार्य—समझ कर; पुरुषान्—पुरुषों से; अधिवहतः—पालकी ले जाने वाले; आह—कहा; हे—अरे; वोढारः—कहारों; साधु अतिक्रमत—एक बराबर चलो जिससे उछाल न हो; किम् इति—किस कारण; विषमम्—असंतुलित, ऊँची-नीची; उह्यते—ले जाई जा रही है; यानम्—पालकी; इति—इस प्रकार।

किन्तु अपने अहिंसक भाव के कारण जड़ भरत पालकी को ठीक से नहीं ले जा रहे थे।

जैसे ही वे आगे बढ़ते, हर तीन फुट पहले वे यह देखने के लिए रुक जाते कि कहीं कोई चींटी पर पांव तो नहीं पड़ रहा है। फलतः वे अन्य कहारों से ताल-मेल नहीं बैठा पा रहे थे। इसके कारण पालकी हिल रही थी। अतः राजा रहुगण ने तुरन्त कहारों से पूछा, “तुम लोग इस पालकी को ऊँची-नीची करके क्यों लिए जा रहे हो? अच्छा हो, यदि उसे ठीक से ले चलो।”

तात्पर्य : यद्यपि जड़ भरत को पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया था, किन्तु उनके मन में मार्ग पर चलने वाली चींटियों के प्रति दयाभाव बना हुआ था। ईश्वर का भक्त अत्यन्त कष्टदायक परिस्थितियों में रहने पर भी भक्ति तथा अन्य उपयुक्त कार्यों को नहीं भूलता। यद्यपि जड़ भरत आध्यात्मिक ज्ञान में बड़े चढ़े योग्य ब्राह्मण थे, किन्तु उनसे पालकी ढोने का कार्य लिया जा रहा था। उन्हें इसकी परवाह नहीं थी। फिर भी मार्ग पर चलते हुए उन्हें अपना यह कर्तव्य नहीं भूला था कि एक भी चींटी नहीं मरनी चाहिए। वैष्णव न तो ईर्ष्या करता है, न ही वृथा उग्र बनता है। मार्ग में अनेक चींटियाँ थीं, किन्तु जड़ भरत तीन फुट पहले ही इनके प्रति सचेत हो जाते। जब चींटियाँ निकल जातीं तभी वे आगे कदम रखते। वैष्णव समस्त जीवों के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। भगवान् कपिलदेव सांख्य योग में बताते हैं— सुहृदः सर्वदेहिनाम्। जीव विभिन्न रूप धारण करते हैं। जो अ-वैष्णव हैं, वे मात्र मनुष्य समाज को अपनी दया के योग्य समझते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अपने को समस्त प्राणियों का पिता कहते हैं। फलतः वैष्णव किसी भी प्राणी को असमय या वृथा ही विनष्ट नहीं होने देता। समस्त जीवों को विशेष भौतिक देह रूप में बँधकर कुछ अवधि पूरी करनी होती है। उन्हें स्वयं ही अन्य देह धारण करने के पूर्व इस शरीर के लिए निर्दिष्ट अवधि को पूरा करना होता है। इस प्रकार किसी पशु या अन्य जीव का वध उसे उस देह-अवधि को पूरा करने में बाधक बनता है। अतः किसी को भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु प्राणियों का वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह पापकर्म में फँस जाएगा।

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयां बभूवुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ते—वे (कहार); ईश्वर-वचः—अपने स्वामी राजा रहुगण के शब्द; स-उपालम्भम्—उलाहनापूर्वक; उपाकर्ण्य—सुनकर; उपाय—साधन; तुरीयात्—चौथे से; शङ्कित-मनसः—संशंकित मन वाले; तम्—उसको (राजा को); विज्ञापयाम् बभूवुः—सूचित किया।

जब कहारों ने महाराजा रहुगण की धमकी सुनी तो वे उसके दण्ड से अत्यन्त भयभीत हो

गये और उनसे इस प्रकार कहने लगे।

तात्पर्य : राजनीति शास्त्र के अनुसार राजा अपने अधीनस्थ लोगों को कभी समझाता है, कभी डराता है, कभी फटकारता है और कभी पुरस्कृत करता है। इस प्रकार वह उन पर शासन करता है। कहार समझ गये कि राजा क्रुद्ध है, अतः वह उन्हें दण्डित करेगा।

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः. अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम सब; नर-देव—हे मनुष्यों में ईश्वर तुल्य (राजा को देव अर्थात् श्रीभगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है); प्रमत्ताः—कार्य के प्रति असावधान; भवत्-नियम-अनुपथाः—सदैव आपके आज्ञाकारी हैं; साधु—ठीक से; एव—निश्चय ही; वहामः—ले जा रहे हैं; अयम्—यह मनुष्य; अधुना—नया; एव—निस्संदेह; नियुक्तः—लगाया गया; अपि—यद्यपि; न—नहीं; द्रुतम्—शीघ्रता से; व्रजति—चलता है, काम करता है; न—नहीं; अनेन—इसके; सह—साथ; वोढुम्—ढोने में; उह—ओह; वयम्—हम सभी; पारयामः—समर्थ हैं; इति—इस प्रकार।

हे स्वामी, कृपया ध्यान दें कि हम अपना कार्य करने में तनिक भी असावधान नहीं हैं। हम इस पालकी को आपकी इच्छानुसार निष्ठा से ले जा रहे हैं, किन्तु यह व्यक्ति, जिसे हाल ही में काम में लगाया गया है, तेजी से नहीं चल पा रहा। अतः हम उसके साथ पालकी ले जाने में असमर्थ हैं।

तात्पर्य : पालकी के अन्य वाहक शूद्र थे, जबकि जड़ भरत न केवल उच्चकुलीन ब्राह्मण थे, वरन् परम भक्त भी थे। शूद्रों को किसी अन्य जीव पर दया नहीं आती, किन्तु वैष्णव कभी शूद्र के समान आचरण नहीं करता। अतः जब भी शूद्रों एवं ब्राह्मण वैष्णवों को एकसाथ मिलाया जाता है, तो कर्तव्यपालन में असंतुलन अवश्य आता है। शूद्र धरती पर चल रही चींटियों की परवाह किये बिना पालकी ले जा रहे थे, जब कि जड़ भरत शूद्रों के समान व्यवहार नहीं कर सकते थे; इसीलिए यह कठिनाई उत्पन्न हुई।

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह. ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सांसर्गिकः—संसर्ग से उत्पन्न; दोषः—अवगुण, त्रुटि; एव—निस्संदेह; नूनम्—निश्चय ही; एकस्य—एक व्यक्ति का; अपि—यद्यपि; सर्वेषाम्—अन्य सभी; सांसर्गिकाणाम्—उसके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों का; भवितुम्—होना; अर्हति—सम्भव है; इति—इस प्रकार; निश्चित्य—निश्चय करके; निशाम्य—सुनकर; कृपण-वचः—दण्ड-भय से भयभीत दीन सेवकों के वचन; राजा—राजा; रहूगणः—रहूगण ने; उपासित-वृद्धः—अनेक महापुरुषों का उपदेश सुना तथा उनकी सेवा किया हुआ; अपि—तो भी; निसर्गेण—अपने स्वभाव से, जो क्षत्रिय का था; बलात्—बलपूर्वक; कृतः—किया हुआ; ईषत्—कुछ-कुछ; उत्थित—जागृत; मन्युः—क्रोध; अविस्पष्ट—ठीक से दृष्टिगोचर न होने वाला, अस्पष्ट; ब्रह्म-तेजसम्—उस (जड़ भरत) का ब्रह्म तेज; जात-वेदसम्—वैदिक अनुष्ठानों में भस्म से ढकी हुई अग्नि; इव—के समान; रजसा आवृत—रजोगुण से ढकी हुई; मतिः—जिसकी बुद्धि; आह—कहा।

राजा रहूगण दण्ड से भयभीत कहारों के वचन का अभिप्राय समझ रहा था। उसकी समझ में यह भी आ गया कि मात्र एक व्यक्ति के दोष के कारण पालकी ठीक से नहीं चल रही। यह सब अच्छी प्रकार जानते हुए तथा उनकी विनती सुनकर वह कुछ-कुछ क्रुद्ध हुआ, यद्यपि वह राजनीति में निपुण एवं अत्यन्त अनुभवी था। उसका यह क्रोध राजा के जन्मजात स्वभाव से उत्पन्न हुआ था। वस्तुतः राजा रहूगण का मन रजोगुण से आवृत था, अतः वह जड़ भरत से, जिनका ब्रह्मतेज राख से ढकी अग्नि के समान सुस्पष्ट नहीं था, इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : इस श्लोक में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का अन्तर बताया गया है। यद्यपि राजा राजनीति और राज्य संचालन में निपुण था, तो भी रजोगुणी होने के कारण थोड़ा विचलित होने पर क्रुद्ध हो गया। अपने गूँगे तथा बहरे बनावे के कारण हो रहा अन्याय जड़ भरत को सहना पड़ा था, तो भी वे अपने आत्मज्ञान के कारण शान्त बने रहे। इतने पर भी उनका ब्रह्मतेज उनके शरीर से अस्पष्ट रूप से झलक रहा था।

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरुपरिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान्सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान्सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहुविप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; कष्टम्—कितना कष्टप्रद है यह; भ्रातः—मेरे भाई; व्यक्तम्—स्पष्ट; ऊरु—अत्यन्त; परिश्रान्तः—थके हुए; दीर्घम्—लम्बा; अध्वानम्—मार्ग; एकः—अकेले; एव—ही; ऊहिवान्—ढोते हुए; सु-चिरम्—दीर्घ काल तक; न—नहीं; अति-पीवा—अत्यन्त हट्टा कट्टा; न—नहीं; संहनन-अङ्गः—सुगठित शरीर; जरसा—बुढ़ापे से; च—भी; उपद्रुतः—विचलित, दबाया हुआ; भवान्—आप; सखे—मेरे मित्र; नो एव—निश्चय ही नहीं; अपरे—दूसरे; एते—ये सब; सङ्घट्टिनः—सह-कर्मी; इति—इस प्रकार; बहु—अत्यधिक; विप्रलब्धः—ताना मारे जाने पर; अपि—यद्यपि; अविद्यया—अज्ञान से; रचित—रचा हुआ; द्रव्य-गुण-कर्म-आशय—भौतिक तत्त्वों, गुणों तथा कर्मफल एवं आकांक्षाओं के मिश्रण में; स्व-चरम-कलेवरे—शरीर में, जो सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहं) से चालित है; अवस्तुनि—ऐसी भौतिक वस्तुओं में; संस्थान-विशेषे—विशेष मनोवृत्ति वाला; अहम् मम—मैं तथा मेरा; इति—इस प्रकार; अनध्यारोपित—ऊपर से थोपा नहीं; मिथ्या—झूठा; प्रत्ययः—विश्वास;

ब्रह्म-भूतः—स्वरूप-सिद्ध, ब्रह्म पद को प्राप्त; तूष्णीम्—चुप रहकर; शिबिकाम्—पालकी; पूर्व-वत्—पहले की तरह; उवाह—ले गया।

राजा रहूगण ने जड़ भरत से कहा : मेरे भाई, यह कितना कष्टप्रद है! तुम निश्चित ही अत्यन्त थके लग रहे हो, क्योंकि तुम बहुत समय से और लम्बी दूरी से किसी की सहायता के बिना अकेले ही पालकी ला रहे हो। इसके अतिरिक्त, बुढ़ापे के कारण तुम अत्यधिक परेशान हो। हे मित्र, मैं देख रहा हूँ कि तुम न तो मोटे-ताजे हो, न ही हट्टे-कट्टे हो। क्या तुम्हारे साथ के कहार तुम्हें सहयोग नहीं दे रहे?

इस प्रकार राजा ने जड़ भरत को ताना मारा, किन्तु इतने पर भी जड़ भरत को शरीर की सुधि नहीं थी। उसे ज्ञान था कि वह शरीर नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपसिद्ध हो चुका था। वह न तो मोटा था, न पतला, न ही उसे पंच स्थूल भूतों तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों के इस स्थूल पदार्थ से कुछ लेना-देना था। उसे भौतिक शरीर तथा इसके दो हाथों तथा दो पैरों से कोई सरोकार न था। दूसरे शब्दों में, कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् ब्रह्म रूप को प्राप्त हो चुका था। अतः राजा की व्यंग्य पूर्ण आलोचना का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह बिना कुछ कहे पूर्ववत् पालकी को उठाये चलता रहा।

तात्पर्य : जड़ भरत पूर्णतया मुक्त थे। जब डाकुओं ने उनके शरीर की बलि देनी चाही थी तब भी उन्हें कोई परवाह नहीं थी, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे शरीर नहीं हैं। यदि उनका शरीर नष्ट भी कर दिया जाता तो भी वे परवाह नहीं करते, क्योंकि उन्हें भगवद्गीता की इस उक्ति (२.२०)—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—पर पूर्ण विश्वास था। उन्हें पता था कि शरीर के मारे जाने पर भी उन्हें नहीं मारा जा सकता। यद्यपि उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने भक्त के प्रति डाकुओं के इस अन्याय को नहीं सहन कर सके, अतः डाकू मारे गये और श्रीकृष्ण के अनुग्रह से वे बच गये। इस घटना में पालकी ढोते समय भी उन्हें पता था कि वे शरीर नहीं हैं। उनका शरीर पालकी ले जाने में पूर्ण सक्षम था, क्योंकि वह हृष्ट-पुष्ट तथा सुगठित था। देहात्म-बोध से मुक्त होने के कारण राजा के व्यंग्य एक विशेष प्रकार के वचनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। शरीर की उत्पत्ति कर्म के अनुसार होती है और प्रकृति एक विशेष प्रकार के शरीर के विकास के लिए सारी सामग्री जुटाती है। शरीर के भीतर का आत्मा शरीर की रचना से पृथक् है, अतः शरीर के प्रति किया गया कोई

उपकार या अपकार आत्मा को प्रभावित नहीं करता। वैदिक आदेश है—*असंगो ह्ययं पुरुषः*—आत्मा कभी भी भौतिक विधानों से प्रभावित नहीं होता।

अथ पुनः स्वशिविकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; पुनः—फिर से; स्व-शिविकायाम्—अपनी पालकी में; विषम-गतायाम्—जड़ भरत के ठीक से न चलने के कारण ऊँची-नीची होने से; प्रकुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; उवाच—कहा; रहूगणः—राजा रहूगण ने; किम् इदम्—यह क्या हो रहा है; अरे—हे मूर्ख; त्वम्—तुम (तू); जीवत्—जिन्दा; मृतः—मरा हुआ; माम्—मुझको; कत्-अर्थी-कृत्य—उपेक्षा करके; भर्तृ-शासनम्—स्वामी का निरादर; अतिचरसि—उल्लंघन कर रहे हो; प्रमत्तस्य—पागल का; च—भी; ते—तुम; करोमि—करूँगा; चिकित्सां—समुचित उपचार; दण्ड-पाणिः इव—यमराज के समान; जनतायाः—सामान्य लोगों की; यथा—जिससे; प्रकृतिम्—स्वाभाविक स्थिति; स्वाम्—स्वतः; भजिष्यसे—ग्रहण करोगे; इति—इस प्रकार।

तत्पश्चात्, जब राजा ने देखा कि उसकी पालकी अब भी पूर्ववत् हिल रही थी, तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कहने लगा—अरे दुष्ट ! तू क्या कर रहा है? क्या तू जीवित ही मर गया है? क्या तू नहीं जानता कि मैं तेरा स्वामी हूँ? तू मेरा अनादर कर रहा है और मेरी आज्ञा का उल्लंघन भी। इस अवज्ञा के लिए मैं अब तुझे मृत्यु के अधीक्षक यमराज के ही समान दण्ड दूँगा। मैं तेरा सही उपचार किये देता हूँ, जिससे तू होश में आ जाएगा और ठीक से काम करेगा।

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान्ब्राह्मणो ब्रह्मभूतसर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बहु—अधिक; अबद्धम्—अनाप-शनाप; अपि—यद्यपि; भाषमाणम्—बोलता हुआ; नर-देव-अभिमानम्—राजा रहूगण, जो अपने को शासक मानता था; रजसा—रजोगुण से; तमसा—तथा तमोगुण से; अनुविद्धेन—बढ़ते हुए; मदेन—दम्भ (पागलपन) से; तिरस्कृत—डॉटा जाकर; अशेष—असंख्य; भगवत्-प्रिय-निकेतम्—ईश्वर के भक्त; पण्डित-मानिनम्—अपने को अत्यन्त पंडित मानते हुए; सः—वह; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान (जड़ भरत); ब्राह्मणः—परम योग्य ब्राह्मण; ब्रह्म-भूत—स्वरूपसिद्ध; सर्व-भूत-सुहृत्-आत्मा—जो समस्त प्राणियों का मित्र है; योग-ईश्वर—सिद्ध योगियों के; चर्यायाम्—आचरण में; न अति-व्युत्पन्न-मतिम्—राजा रहूगण को, जो वस्तुतः अनुभवी न था; स्मयमानः—कुछ-कुछ मुस्काते हुए; इव—सदृश; विगत-स्मयः—समस्त मिथ्या अभिमान से रहित; इदम्—यह; आह—कहा।

राजा रहूगण अपने को राजा समझने के कारण देहात्मबुद्धि से ग्रस्त था और भौतिक प्रकृति के रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित था। दम्भ के कारण उसने जड़ भरत को अशोभनीय वचनों से दुत्कारा। जड़ भरत महान् भक्त और श्रीभगवान् के प्रिय धाम थे। यद्यपि राजा अपने आपको

बड़ा विद्वान मानता था, किन्तु वह न तो महान् भक्त की स्थिति से और न उसके गुणों से परिचित था। जड़ भरत तो साक्षात् भगवान् के परम धाम थे और अपने हृदय में ईश्वर के स्वरूप को धारण करते थे। वे समस्त प्राणियों के प्रिय मित्र थे और किसी प्रकार की देहात्म-बुद्धि को नहीं मानते थे। अतः वे मुस्काये और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : इस श्लोक में देहात्मबुद्धिमय तथा देहात्मबुद्धि से परे (दिव्य) व्यक्ति का अन्तर बताया गया है। देहात्मबुद्धि के कारण राजा रहूगण अपने को राजा मानता था और अनेक अवांछनीय शब्दों में जड़ भरत को फटकार रहा था। किन्तु जड़ भरत दिव्य पद प्राप्त होने के कारण तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए, बल्कि वे मुस्कराये और राजा रहूगण को उपदेश देने लगे। परम वैष्णव सभी प्राणियों का सखा होता है, अतः वह अपने शत्रुओं का भी मित्र रहता है। वास्तव में वह किसी को शत्रु नहीं समझता—सुहृदः सर्वदेहिनाम्। कभी-कभी वैष्णव ऊपर से अभक्त पर रोष प्रकट करता है, किन्तु यह अभक्त के लिए लाभप्रद होता है। वैदिक साहित्य ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक बार नारद कुबेर के दो पुत्रों नलकूवर तथा मणिग्रीव पर क्रुद्ध हो गये तो उन्हें वृक्ष बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया। भक्त तो परम पद पर आसीन रहता है, अतः चाहे वह प्रसन्न हो या क्रुद्ध इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येक दशा में वह अपना आशीर्वाद देता है।

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं

भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।

गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा

पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—योग्य ब्राह्मण (जड़ भरत) बोला; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—कहा गया; व्यक्तम्—अत्यन्त स्पष्ट; अविप्रलब्धम्—विरोधाभास रहित; भर्तुः—ढोने वाले का, शरीर; सः—वह; मे—मेरा; स्यात्—ऐसा होता; यदि—यदि; वीर—हे वीर पुरुष (महाराज रहूगण); भारः—भार, बोझा; गन्तुः—चलने वाले का, अथवा शरीर; यदि—अगर; स्यात्—होना था; अधिगम्यम्—लक्ष्य; अध्वा—पथ; पीवा—अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट; इति—इस प्रकार; राशौ—शरीर में; न—नहीं; विदाम्—स्वरूपसिद्ध पुरुषों का; प्रवादः—वाद-विवाद का विषय।

महान् ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—हे राजन् तथा वीर, आपने जो कुछ व्यंग्य में कहा है, वह सचमुच ठीक है। ये मात्र उलाहनापूर्ण शब्द नहीं हैं, क्योंकि शरीर तो वाहक (ढोने वाला) है। शरीर द्वारा ढोया जाने वाला भार मेरा नहीं है, क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ। आपके कथनों में तनिक

भी विरोधाभास नहीं है, क्योंकि मैं शरीर से भिन्न हूँ। मैं पालकी का ढोने वाला नहीं हूँ, वह तो शरीर है। निस्सन्देह, जैसा आपने संकेत किया है, पालकी ढोने में मैंने कोई श्रम नहीं किया है, क्योंकि मैं तो शरीर से पृथक् हूँ। आपने कहा कि मैं हृष्ट-पुष्ट नहीं हूँ। ये शब्द उस व्यक्ति के सर्वथा अनुरूप हैं, जो शरीर तथा आत्मा का अन्तर नहीं जानता। शरीर मोटा या दुबला हो सकता है, किन्तु कोई भी बुद्धिमान यह बात आत्मा के लिए नहीं कहेगा। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है मैं न तो मोटा हूँ न दुबला। अतः जब आप कहते हैं कि मैं हृष्ट-पुष्ट नहीं हूँ तो आप सही हैं और यदि इस यात्रा का बोझ तथा वहाँ तक जाने का मार्ग मेरे अपने होते तो मेरे लिए अनेक कठिनाइयाँ होतीं, किन्तु इनका सम्बन्ध मुझसे नहीं मेरे शरीर से है, अतः मुझे कोई कष्ट नहीं है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि आत्मज्ञानी कभी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता। यह भौतिक शरीर आत्मा से सर्वथा पृथक् है और शरीर के सुख तथा दुख व्यर्थ हैं। तप-साधना का उद्देश्य शरीर तथा आत्मा के अन्तर एवं शरीर के सुख-दुख से आत्मा जिस तरह अप्रभावित रहता है, उसे पहचानना तथा समझना है। जड़ भरत वास्तव में आत्म-साक्षात्कार के धरातल पर स्थित थे। वे देहात्मबुद्धि से सर्वथा परे थे, अतः उन्होंने राजा को विश्वास दिलाया कि उनके शरीर के सम्बन्ध में कही गई उसकी विरोधी बातें आत्मस्वरूप उन पर लागू नहीं होती हैं।

स्थौल्यं काश्यं व्याधय आधयश्च

क्षुत्तृभयं कलिरिच्छा जरा च ।

निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो

देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्थौल्यम्—स्थूलता, मोटापा; काश्यम्—कृशता, दुबलापन; व्याधयः—शरीर के कष्ट यथा रोग; आधयः—मानसिक कष्ट; च—तथा; क्षुत् तृट् भयम्—भूख, प्यास तथा भय; कलिः—कलह, दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा; इच्छा—कामनाएँ; जरा—वृद्धावस्था; च—तथा; निद्रा—नींद; रतिः—इन्द्रियतृप्ति के लिए आसक्ति; मन्युः—क्रोध; अहम्—झूठी पहचान (देहात्म बोध); मदः—मोह; शुचः—शोक; देहेन—इस शरीर से; जातस्य—उत्पन्न हुए का; हि—निश्चय ही; मे—मुझमें; न—नहीं; सन्ति—हैं।

मोटापा, दुबलापन शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, भूख, प्यास, भय, कलह, भौतिक सुख की कामना, बुढ़ापा, निद्रा, भौतिक पदार्थों में आसक्ति, क्रोध, शोक, मोह तथा देहाभिमान—ये सभी आत्मा के भौतिक आवरण के रूपान्तर हैं। जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, वही

इनसे प्रभावित होता है, किन्तु मैं तो समस्त प्रकार की देहात्मबुद्धि से मुक्त हूँ। फलतः मैं न तो मोटा हूँ, न पतला, न ही वह सब जो आपने मेरे सम्बन्ध में कहा है।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—*देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहाँ तार।* जो आध्यात्मिक रूप से उन्नत है उसका इस शरीर से या शरीर के कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब मनुष्य यह समझ जाता है कि वह शरीर नहीं है, अतः वह न तो मोटा है, न पतला तो उसे उच्च स्तर का आत्म-साक्षात्कार होता है। किन्तु जब वह स्वरूपसिद्ध नहीं होता तो देहात्मबुद्धि उसे संसार में उलझा देती है। इस समय समूचा मानव समाज देहात्मबुद्धि के अधीन कार्यशील है, अतः शास्त्रों में इस युग के व्यक्तियों को *द्विपद पशु* कहा गया है। जो सभ्यता ऐसे पशुओं द्वारा संचालित हो उसमें भला कोई कैसे सुखी रह सकता है? हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन पतित समाज को आत्मज्ञान के धरातल तक उठाने के लिए प्रयत्नशील है। प्रत्येक प्राणी के लिए जड़ भरत की ही तरह तुरन्त स्वरूपसिद्ध हो सकना सम्भव नहीं है। फिर भी *श्रीमद्भागवत* (१.२.१८) में :

नष्टप्रायेष्वऽभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्टिकी ॥

जितना ही हम देहात्मबुद्धि से दूर रहेंगे उतना ही हम भक्ति में स्थिर होंगे और उतना ही अधिक शान्त एवं सुखी हो सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जो भौतिकता से जितना अधिक प्रभावित होते हैं उनमें उतनी ही अधिक देहात्मबुद्धि होती है। ऐसे व्यक्ति विभिन्न शारीरिक लक्षणों के प्रति चिन्तित रहते हैं, किन्तु जो इनसे मुक्त होता है, वह भौतिकता में भी शरीर के बिना जीवित रहता है।

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्

आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।

स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र

तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

जीवन्-मृतत्वम्—जीवित रहकर भी मृत होने का गुण; नियमेन—प्रकृति के नियमों द्वारा; राजन्—हे राजा; आदि-अन्त-वत्—प्रत्येक पदार्थ का आदि और अन्त होता है; यत्—क्योंकि; विकृतस्य—विकारी वस्तु का, यथा शरीर का; दृष्टम्—देखी जाती है; स्व-स्वाम्य-भावः—सेवक तथा स्वामी का भाव; ध्रुवः—अपरिवर्तनीय, स्थिर; ईड्य—हे पूज्य; यत्र—जहाँ; तर्हि—तभी; उच्यते—यह कहा जाता है; असौ—वह; विधि-कृत्य-योगः—आज्ञा तथा कर्तव्य का संयोग।

हे राजन्, आपने वृथा ही मुझ पर जीवित होने पर भी मृततुल्य होने का आरोप लगाया है। इस भौतिक सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसा सर्वत्र है, क्योंकि प्रत्येक भौतिक वस्तु का अपना आदि तथा अन्त होता है। आपका यह सोचना कि, “मैं राजा तथा स्वामी हूँ” और इस प्रकार आप द्वारा मुझे आज्ञा दिया जाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ये पद अस्थायी हैं। आज आप राजा हैं और मैं आपका दास हूँ, किन्तु कल स्थिति बदल सकती है और आप मेरे दास हो सकते हैं, मैं आपका स्वामी। ये नियति द्वारा उत्पन्न अस्थायी परिस्थितियाँ हैं।

तात्पर्य : इस संसार में देहात्मबुद्धि ही सारे कष्टों का मूल कारण है। विशेष रूप से कलियुग में लोग इतने अशिक्षित हैं कि उनकी समझ में यह भी नहीं आता कि यह शरीर प्रत्येक क्षण बदल रहा है और अनन्तिम परिवर्तन ही मृत्यु कहलाता है। जो इस जन्म में राजा है, वही कर्मवश अगले जीवन में कुत्ता बन सकता है। आत्मा तो प्रकृति की शक्ति से उत्पन्न गहरी निद्रा में मग्न रहता है। वह एक प्रकार की अवस्था से दूसरे प्रकार की अवस्था में रख दिया जाता है। बिना आत्म-साक्षात्कार तथा ज्ञान के, बद्ध जीवन चलता रहता है और मनुष्य अपने को झूठे ही राजा, दास, कुत्ता या बिल्ली कहलाने का दावा करता है। ये परम व्यवस्था द्वारा लाये जाने वाले विभिन्न रूपान्तर हैं। मनुष्य को इन अस्थायी देहात्मबुद्धि की कल्पनाओं से भ्रमित नहीं होना चाहिए। वस्तुतः इस संसार में कोई भी स्वामी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियंत्रण में है और स्वयं प्रकृति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अधीन हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ही परम स्वामी हैं। जैसाकि *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—एकमात्र स्वामी तो श्रीकृष्ण हैं तथा अन्य सब उनके दास हैं। परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही संसार के सारे कष्ट उत्पन्न होते हैं।

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक्

पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।

क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं

तथापि राजन्करवाम किं ते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विशेष-बुद्धेः—स्वामी तथा सेवक के भेद की बुद्धि का; विवरम्—क्षेत्र, प्रसार; मनाक्—किंचित; च—भी; पश्यामः—मैं देखता हूँ; यत्—जो; न—नहीं; व्यवहारतः—व्यवहार के सिवा; अन्यत्—अन्य; कः—कौन; ईश्वरः—स्वामी; तत्र—इसमें;

किम्—कौन; ईशितव्यम्—वश में किया जाये; तथापि—तो भी; राजन्—हे राजा; करवाम—मैं करूँ; किम्—क्या; ते—
तुम्हारे लिए।

हे राजन्, यदि आप अब भी यह सोचते हैं कि आप राजा हैं और मैं आपका दास, तो आप आज्ञा दें और मुझे आपकी आज्ञा का पालन करना होगा। तो मैं यह कह सकता हूँ कि यह अन्तर क्षणिक है और व्यवहार या परम्परावश प्राप्त होता है। मुझे इसका अन्य कारण नहीं दिखाई पड़ता। उस दशा में कौन स्वामी है और कौन दास? प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियमों द्वारा प्रेरित होता है। अतः न तो कोई स्वामी है, न कोई दास। इतने पर भी यदि आप सोचते हैं कि मैं आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं, तो मैं इसे स्वीकार कर लूँगा। कृपया आज्ञा दें। मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में कहा गया है—अहं मामेति—“मैं यह शरीर हूँ और इस शारीरिक सम्बन्ध से ही वह मेरा स्वामी है, मेरा दास है, मेरी पत्नी है या मेरा पुत्र है।” ये सारे भाव शरीर के अनिवार्य परिवर्तन तथा प्रकृति की व्यवस्था के कारण अस्थिर हैं। हम समुद्र की तरंगों में तिरने वाले तिनकों के समान एकत्र हुए हैं, किन्तु सारे तिनके लहरों के नियमों के द्वारा अवश्य एक दूसरे से पृथक् होंगे। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति संसार-सागर की लहरों में उतरा रहा है। भक्ति विनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है—

(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे'।

खाच्छा हाबुडुबु, भाइ ॥

(जीव) कृष्ण-दास, ए विश्वास, ।

कर्ले त'आर दुःख नाइ ॥

“सभी स्त्री तथा पुरुष प्रकृति की तरंगों में तिनकों के समान तैर रहे हैं। यदि वे समझ लें कि वे श्रीकृष्ण के शाश्वत सेवक हैं, तो उनका तैरना बन्द हो जाये।” जैसाकि भगवद्गीता (३.३७) में कहा गया है—काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। रजोगुण के कारण हमें अनेक वस्तुओं की इच्छा होती है और हमारी इच्छा या चिन्ता तथा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार प्रकृति कोई एक शरीर प्रदान करती है। कुछ काल तक हम पात्रों की भाँति रंगमंच में किसी अन्य के नियंत्रण में स्वामी या सेवक की तरह कार्य (अभिनय) करते हैं। हमें चाहिए कि मनुष्य के रूप में इस प्रकार का अभिनय करना बन्द कर

दें। हमें चाहिए कि हम अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति, कृष्णभावनामृत को प्राप्त करें। इस समय हमारा वास्तविक स्वामी तो प्रकृति है। *दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया (भगवद्गीता ७.१४)।* प्रकृति के सम्मोहन से हम सेवक तथा स्वामी बन रहे हैं, किन्तु यदि हम श्रीभगवान् तथा उनके शाश्वत सेवकों द्वारा अनुशासित होना स्वीकार कर लें तो यह क्षणिक अवस्था समाप्त हो जाये।

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां

गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।

अर्थ: कियान्भवता शिक्षितेन

स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

उन्मत्त—पागलपन; मत्त—शराबी; जड-वत्—जड़ की भाँति; स्व-संस्थाम्—मेरी मूल स्वाभाविक स्थिति; गतस्य—प्राप्त किया हुआ; मे—मुझको; वीर—हे राजा; चिकित्सितेन—अपनी भर्त्सना से; अर्थ:—प्रयोजन; कियान्—कौन सा; भवता—आपके द्वारा; शिक्षितेन—शिक्षा दिये गए; स्तब्ध—जड़; प्रमत्तस्य—पागल मनुष्य का; च—भी; पिष्ट-पेषः—आटा पीसने जैसा।

हे राजन्, आपने कहा “रे दुष्ट, जड़ तथा पागल! मैं तुम्हारी चिकित्सा करने जा रहा हूँ और तब तुम होश में आ जाओगे।” इस सम्बन्ध में मुझे कहना है कि यद्यपि मैं जड़, गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति रहता हूँ, किन्तु मैं सचमुच एक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति हूँ। आप मुझे दण्डित करके क्या पाएँगे? यदि आपका अनुमान ठीक है और मैं पागल हूँ तो आपका यह दंड एक मरे हुए घोड़े को पीटने जैसा होगा। उससे कोई लाभ नहीं होगा। जब पागल को दंडित किया जाता है, तो उसका पागलपन ठीक नहीं होता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक अवस्था में अर्जित झूठे विशेष प्रभावों के अन्तर्गत पागल के समान आचरण करता है। उदाहरणार्थ, चोर यह जानता है कि चोरी अच्छा काम नहीं है और यह कि इसके बाद राजा या ईश्वर से दण्ड मिलता है तथा चोर पकड़े जाते हैं और पुलिस उन्हें दण्ड देती है, तो भी वह बारम्बार चोरी करता है। उसके मन में यह विचार घर किये रहता है कि चोरी करने से वह सुखी हो जाएगा। यह तो पागलपन का लक्षण है। बारम्बार दण्डित होकर भी चोर अपनी चोरी करने की आदत नहीं छोड़ पाता, अतः दण्ड वृथा है।

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मरब्धं
व्यपनयत्राजयानमपि तथोवाह. ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी आगे बोले; एतावत्—इतना; अनुवाद-परिभाषया—राजा द्वारा कहे गये शब्दों के दोहराने से; प्रत्युदीर्य—एक के बाद एक उत्तर देते हुए; मुनि-वरः—मुनिश्रेष्ठ जड़ भरत; उपशम-शीलः—परम शान्त; उपरत—चुप हो गये; अनात्म्य—आत्मा से सम्बन्ध न रखने वाली वस्तुएँ; निमित्तः—जिसका कारण (अज्ञान) जो आत्मा से सम्बन्धित नहीं है उससे अपनी पहचान स्थापित करना; उपभोगेन—कर्मफल को अंगीकार करने से; कर्म-आरब्धम्—इस समय मिलने वाला कर्मफल; व्यपनयन्—पूरा करते हुए; राज-यानम्—राजा की पालकी; अपि—पुनः; तथा—पूर्ववत्; उवाह—लेकर चलने लगे।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे महाराज परीक्षित, जब राजा रहूगण ने परम भक्त जड़ भरत को अपने कटु वचनों से मर्माहत किया, तो उस शान्त मुनिवर ने सब कुछ सहन कर लिया और समुचित उत्तर दिया। अज्ञानता का कारण देहात्मबुद्धि है, किन्तु जड़ भरत उससे प्रभावित नहीं थे। अपनी स्वाभाविक विनम्रता के कारण उन्होंने अपने को कभी भी महान् भक्त नहीं माना और अपने पूर्व कर्मफल को भोगना स्वीकार किया। सामान्य मनुष्य की भाँति उन्होंने सोचा कि वे पालकी ढोकर अपने पूर्व अपकृत्यों के फल को विनष्ट कर रहे हैं। ऐसा सोचकर वे पूर्ववत् पालकी लेकर चलने लगे।

तात्पर्य : ईश्वर का उच्च भक्त कभी यह नहीं सोचता कि वह परमहंस अथवा मुक्त पुरुष है। वह तो सदैव ईश्वर का विनीत दास बना रहता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह अपने पूर्वजन्म के कर्म-फलों को भोगना स्वीकार करता है। वह ईश्वर पर कभी दोषारोपण नहीं करता है कि उनके कारण उसे कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। ये परम भक्त के लक्षण हैं—*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः*। जब परिस्थितियाँ पलट जाती हैं, तो भक्त यही सोचता है कि पलटी हुई ये परिस्थितियाँ तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त रियायतें हैं। वह कभी अपने स्वामी पर क्रुद्ध नहीं होता और उसका स्वामी उसे जो भी स्थिति प्रदान करता है उससे वह सदैव सन्तुष्ट रहता है। प्रत्येक दशा में वह अपनी भक्ति चालू रखता है। ऐसे पुरुष को निश्चित रूप से परम धाम लौटने की स्थिति प्राप्त होती है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्गावपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

“हे ईश्वर! जो आपकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रतीक्षा करता है और आपको हृदय से सादर नमस्कार करता हुआ पूर्व-दुष्कर्मों के फलों को भोगता रहता है, वह अवश्य ही मुक्ति का भागी है क्योंकि यह उसका अधिकार बन जाता है।”

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्दृढयग्रन्थिमोचनं
द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन्विगतनृपदेवस्मय
उवाच. ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज रहुगण); च—भी; अपि—निस्संदेह; पाण्डवेय—हे पांडुवंश के श्रेष्ठ (महाराज परीक्षित); सिन्धु-सौवीर-पतिः—सिंधु तथा सौवीर नामक राज्यों का राजा; तत्त्व-जिज्ञासायाम्—परम सत्य के सम्बन्ध में जानने की इच्छा के बारे में; सम्यक्-श्रद्धया—इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाली श्रद्धा से; अधिकृत-अधिकारः—समुचित योग्यताप्राप्त; तत्—उस; हृदय-ग्रन्थि—हृदय के भीतर झूठे विचारों की गाँठ; मोचनम्—खोलने वाले; द्विज-वचः—ब्राह्मण (जड़ भरत) के शब्द; आश्रुत्य—सुनकर; बहु-योग-ग्रन्थ-सम्मतम्—समस्त योग तथा उनके ग्रन्थों द्वारा सम्मत (समर्थित); त्वरया—शीघ्रतापूर्वक; अवरुह्य—उतर कर (पालकी से); शिरसा—अपने सिर से; पाद-मूलम्—चरणकमल पर; उपसृतः—दण्डप्रणाम करके; क्षमापयन्—अपने अपराध के लिए क्षमा प्राप्त करके; विगत-नृप-देव-स्मयः—राजा होने का झूठा अभिमान तथा पूज्यभाव त्याग कर; उवाच—कहा।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे श्रेष्ठ पाण्डुवंशी (महाराज परीक्षित), सिंधु तथा सौवीर के राजा (रहुगण) की परम सत्य की चर्चाओं में श्रद्धा थी। इस प्रकार सुयोग्य होने के कारण, उसने जड़ भरत से वह दार्शनिक उपदेश सुना जिसकी संस्तुति सभी योग साधना के ग्रन्थ करते हैं और जिससे हृदय में पड़ी गाँठ ढीली पड़ती है। इस प्रकार उसका राज-मद नष्ट हो गया। वह तुरन्त पालकी से नीचे उतर आया और जड़ भरत के चरण-कमलों में अपना सिर रखकर पृथ्वी पर दण्डवत् गिर गया जिससे वह इस ब्राह्मण-श्रेष्ठ को कहे गये अपमानपूर्ण शब्दों के लिए क्षमा प्राप्त कर सके। तब उसने इस प्रकार प्रार्थना की।

तात्पर्य : भगवद्गीता (४.२) में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥

“इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे इसी विधि से जाना। किन्तु कालक्रम से वह परम्परा टूट गई जिससे यह विज्ञान लुप्तप्राय हो गया प्रतीत होता है।”

गुरु-परम्परा से राजा भी ऋषियों के तुल्य थे। पूर्वकाल में राजर्षि जीवन-दर्शन समझते थे और नागरिकों को उसी स्तर तक ऊपर उठने की शिक्षा प्रदान करना जानते थे। अर्थात् वे नागरिकों को जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से छुटकारा दिलाना जानते थे। जब महाराज दशरथ अयोध्या में राज कर रहे थे तो एक बार महर्षि विश्वामित्र असुरों के वध के लिए उनसे रामचन्द्र तथा लक्ष्मण को जंगल ले जाने के लिए माँगने आये। जब विश्वामित्र मुनि महाराज दशरथ के दरबार में आये तो उनका स्वागत करने के लिए उन्होंने उनसे पूछा—*ऐहिष्टं यत् तत् पुनर्जन्मजयाय*—अर्थात् जन्म तथा मृत्यु के चक्र को जीतने के उनके प्रयत्न ठीक से चल रहे हैं न? वैदिक सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया इसी तथ्य पर आधारित है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि जन्म-मृत्यु के चक्र को किस प्रकार जीता जा सकता है। महाराज रहूगण को भी जीवन का लक्ष्य ज्ञात था, अतः जब जड़ भरत ने उनके समक्ष जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया, तो उन्होंने इसकी तत्काल प्रशंसा की। वैदिक समाज की यही आधार-शिला है। विद्वान, ब्राह्मण, सन्त तथा ऋषि वैदिक प्रयोजन से परिचित थे, अतः वे राजाओं को आम जनसमूह के कल्याण के लिए उपदेश देते थे। इस प्रकार उनके सहयोग से जनसमूह को लाभ पहुँचता था। इसलिए प्रत्येक वस्तु में सफलता प्राप्त होती थी। महाराज रहूगण को मनुष्य जीवन की महत्ता पूर्णरूपेण ज्ञात थी, अतः उन्हें अपने द्वारा जड़ भरत को कहे गये अपशब्दों का खेद था। वे तुरन्त पालकी से उतर कर जड़ भरत के पाँवों पर गिर पड़े, क्षमा माँगी और जीवन के महत्त्व के विषय में, जिसे ब्रह्म-जिज्ञासा कहते हैं, अधिक जानने की प्रार्थना की। इस समय के उच्च राज्याधिकारी जीवन-मूल्यों के विषय में सर्वथा अनजान हैं, अतः जब साधु-सन्त लोग वैदिक ज्ञान का प्रसार करना चाहते हैं, तो वे उनको नमस्कार तक नहीं करते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राज-शासन स्वर्ग तुल्य था और वर्तमान शासन नरक तुल्य है।

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां

बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।

कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्

क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कः त्वम्—आप कौन हैं; निगूढः—प्रच्छन्न; चरसि—इस संसार में विचरण कर रहे हैं; द्विजानाम्—ब्राह्मणों अथवा साधु पुरुषों में; बिभर्षि—आपने धारण कर रखा है; सूत्रम्—उपवीत, ब्राह्मणों द्वारा धारण किया जाने वाला जनेऊ; कतमः—कौन से;

अवधूतः—अत्यन्त महान् पुरुष; कस्य असि—आप किसके हैं (किसके पुत्र या शिष्य हैं); कुत्रत्यः—कहाँ से; इह अपि—यहाँ इस स्थान पर; कस्मात्—किस लिए; क्षेमाय—लाभार्थ; नः—हम सबों के; चेत्—यदि; असि—आप हैं; न उत—अथवा नहीं; शुक्लः—विशुद्ध-सत्त्व-स्वरूप (कपिल देव)।

राजा रहूगण बोले, हे ब्राह्मण, आप इस जगत में अत्यन्त प्रच्छन्न भाव से तथा अज्ञात रूप से विचरण करते प्रतीत हो रहे हैं। आप कौन हैं? क्या आप विद्वान ब्राह्मण तथा साधु पुरुष हैं? आपने जनेउ धारण कर रखा है। कहीं आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों में से कोई विद्वान तो नहीं हैं? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप किसके शिष्य हैं? आप कहाँ रहते हैं? आप इस स्थान पर क्यों आये हैं? कहीं आप हमारे कल्याण के लिए तो यहां नहीं आये? कृपया बतायें कि आप कौन हैं?

तात्पर्य : राजा रहूगण को जब पता चल गया कि जड़ भरत गुरु-परम्परा से अथवा जन्म से ब्राह्मण कुल के हैं, तो वह अधिक वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठा। जैसाकि वेदों में उद्धृत है— *तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*। रहूगण जड़ भरत को अपना गुरु स्वीकार कर रहा था, किन्तु गुरु को चाहिए कि वह अपने पद को यज्ञोपवीत धारण करने से नहीं, वरन् अपने ब्रह्मज्ञान से सिद्ध करे। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि रहूगण ने जड़ भरत से उनके कुल के सम्बन्ध में पूछा। कुल भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो वंश परम्परा से प्राप्त तथा दूसरा गुरु-परम्परा से प्राप्त। इन दोनों ही प्रकारों से ज्ञान की प्राप्ति होती है। *शुक्लः* शब्द सात्विक गुण का सूचक है। किसी को आत्मज्ञान प्राप्त करना है, तो उसे प्रामाणिक ब्राह्मण-गुरु के पास जाना चाहिए, चाहे वह गुरु-परम्परा से हो अथवा विद्वान ब्राह्मणों के कुल से सम्बद्ध हो।

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-

न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात् ।

नागन्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्राच्

छङ्गे भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; विशङ्के—भयभीत हूँ; सुर-राज-वज्रात्—स्वर्ग के राजा इन्द्र के वज्र से; न—न तो; त्र्यक्ष-शूलात्—भगवान् शिव के त्रिशूल से; न—न तो; यमस्य—मृत्यु के अधीक्षक यमराज के; दण्डात्—दण्ड से; न—न तो; अग्नि—अग्नि के; अर्क—सूर्य के असह्य ताप के; सोम—चन्द्रमा के; अनिल—वायु के; वित्त-प—धन के स्वामी कुबेर के; अस्त्रात्—अस्त्रों से; शङ्गे—भयभीत हूँ; भृशम्—अत्यधिक; ब्रह्म-कुल—ब्राह्मण-वृन्द के; अवमानात्—अपमान से।

महानुभाव, न तो मुझे इन्द्र के वज्र का भय है, न नागदंश का, न भगवान् शिव के त्रिशूल

का। मुझे न तो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के दण्ड की परवाह है, न ही मैं अग्नि, तप्त सूर्य, चन्द्रमा, वायु अथवा कुबेर के अस्त्रों से भयभीत हूँ। परन्तु मैं ब्राह्मण के अपमान से डरता हूँ। मुझे इससे बहुत भय लगता है।

तात्पर्य : जब श्री चैतन्य महाप्रभु प्रयाग में दशाश्वमेध घाट पर रूप गोस्वामी को शिक्षा दे रहे थे तो उन्होंने वैष्णव-अपराध की गम्भीरता का स्पष्ट संकेत किया था। उन्होंने वैष्णव-अपराध की तुलना हाती माता—मत्त हाथी—से की थी। जब मत्त हाथी उद्यान में घुसता है, तो वह सारे फल-फूल उजाड़ देता है। इसी प्रकार से यदि कोई वैष्णव का अपमान करता है, तो वह अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को नष्ट करता है। ब्राह्मण का अपमान अत्यन्त घातक होता है और यह महाराज रहूगण जानते थे। अतः उन्होंने अपने अपराध को स्पष्ट रूप से स्वीकार लिया। यद्यपि अनेक दारुण वस्तुएँ हैं—यथा वज्र, अग्नि, यमराज का दण्ड, भगवान् शिव का त्रिशूल आदि—किन्तु इनमें से एक भी जड़ भरत जैसे ब्राह्मण के प्रति अपराध के तुल्य दारुण नहीं है। अतः महाराज रहूगण तुरन्त ही पालकी से नीचे उतरे और ब्राह्मण जड़ भरत से क्षमा-याचना के लिए उनके चरणकमलों पर गिर गये।

तद्ब्रह्मसङ्गो जडवन्निगूढ-

विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः ।

वचांसि योगग्रथितानि साधो

न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; ब्रूहि—कृपया बतलाइये; असङ्गः—संसार के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखने वाला; जड-वत्—मूक तथा गुँगे मनुष्य की तरह लगने वाला; निगूढ—पूर्णतया प्रच्छन्न; विज्ञान-वीर्यः—आत्मतत्त्व के ज्ञान से पूर्ण तथा शक्तिशाली; विचरसि—घूम रहे हो; अपारः—अनन्त दिव्य महिमा वाला; वचांसि—उच्चरित शब्द; योग-ग्रथितानि—योग का समग्र अर्थ वहन करने वाला; साधो—हे साधु; न—नहीं; नः—हम सब; क्षमन्ते—समर्थ हैं; मनसा अपि—यहाँ तक कि मन से भी; भेत्तुम्—विश्लेषणात्मक विधि से समझना।

महाशय, ऐसा प्रतीत होता है कि आपका महत् आध्यात्मिक ज्ञान प्रच्छन्न है। आप समस्त भौतिक संसर्ग से रहित हैं और परमात्मा के विचार में पूर्णतया तल्लीन हैं। इसलिए आपका आध्यात्मिक ज्ञान अनन्त है। कृपया बलताने का कष्ट करें कि आप जड़वत् सर्वत्र क्यों घूम रहे हैं? हे साधु, आपने योगसम्मत शब्द कहे हैं, किन्तु हमारे लिए उनको समझ पाना सम्भव नहीं है। अतः कृपा करके विस्तार से कहें।

तात्पर्य : जड़ भरत जैसे साधु पुरुष सामान्य शब्द नहीं बोलते। वे जो कुछ भी कहते हैं वह योगियों तथा सिद्धों द्वारा स्वीकृत हुआ होता है। सामान्य व्यक्ति तथा साधु पुरुष के बीच यही अन्तर होता है। श्रोता को भी जड़ भरत जैसे सिद्ध पुरुष के वचन समझने के लिए प्रबुद्ध होना चाहिए। *भगवद्गीता* अर्जुन को ही सुनाई गई, अन्यो को नहीं। श्रीकृष्ण ने जान-बूझ कर आत्म-ज्ञान की शिक्षा के लिए अर्जुन को चुना, क्योंकि अर्जुन परम भक्त और विश्वासपात्र मित्र था। इसी प्रकार महापुरुष शूद्रों, वैश्यों, स्त्रियों या अज्ञानियों को उपदेश न देकर ज्ञानियों को ही देते हैं। कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों को दर्शन का उपदेश देना घातक भी होता है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने कलियुग के पतित जीवों के लाभ हेतु हमें अमोघ साधन—हरे कृष्ण मंत्र का जप—प्रदान किया है। सामान्य जनसमूह यद्यपि शूद्र तथा इससे भी निम्न क्यों न ही, किन्तु हरे कृष्ण मंत्र के जप से वह शुद्ध हो सकता है। तब सभी व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के दार्शनिक वचनों को समझ सकते हैं। इसीलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने सामान्य जनसमूह के लिए हरे कृष्ण महामंत्र जप स्वीकार किया है। जब क्रमशः लोग शुद्ध हो जाते हैं, तो उन्हें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेश की शिक्षा दी जाती है। स्त्री, शूद्र तथा द्विज-बन्धु जैसे भौतिकतावादी प्राणी आत्मोन्नति को नहीं समझ पाते तो भी उन्हें वैष्णव की शरण में जाना चाहिए, क्योंकि वह शूद्रों को भी *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवतम्* का उच्च ज्ञान प्रदान करने की कला जानता है।

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-

विदां मुनीनां परमं गुरुं वै ।

प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्

साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; योग-ईश्वरम्—योग के स्वामी; आत्म-तत्त्व-विदाम्—आत्मतत्त्व के विज्ञान से परिचित विद्वान्;
मुनीनाम्—मुनियों का; परमम्—श्रेष्ठ; गुरुम्—गुरु, उपदेशक; वै—निस्संदेह; प्रष्टुम्—पूछने हेतु; प्रवृत्तः—कार्यलग्न; किम्—
क्या; इह—इस संसार में; अरणम्—सुरक्षित शरण; तत्—वह जो; साक्षात् हरिम्—प्रत्यक्ष श्रीभगवान्; ज्ञान-कला-
अवतीर्णम्—जो सम्पूर्ण ज्ञान के अवतार के रूप में अंशधारी कपिल के रूप में अवतरित हुए हैं।

मैं आपको योग शक्ति का प्रतिष्ठित स्वामी मानता हूँ। आप आत्मज्ञान से भली भाँति परिचित हैं। आप साधुओं में परम पूज्य हैं और आप समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए अवतरित हुए हैं। आप आत्मज्ञान प्रदान करने आये हैं और ईश्वर के अवतार तथा ज्ञान के अंश कपिलदेव

के साक्षात् प्रतिनिधि हैं। अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ, “हे गुरु, इस संसार में सर्वाधिक सुरक्षित आश्रय कौन सा है?”

तात्पर्य : भगवद्गीता (६.४७) में श्रीकृष्ण ने पुष्टि की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

“सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर दिव्य प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अंतरंग रूप में युक्त हैं और परम श्रेष्ठ है।”

जड़ भरत पूर्ण योगी थे। पूर्वजन्म में वे सम्राट भरत महाराज थे और अब वही साधुओं में महापुरुष और समस्त योग शक्तियों के स्वामी थे। यद्यपि जड़ भरत सामान्य जीव थे, किन्तु श्रीभगवान् कपिल देव से समस्त ज्ञान उन्हें विरासत में मिला था। अतः उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् माना जा सकता था। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर ने गुरु की प्रार्थना में लिखे इस पद्य में की है—
साक्षाद्-धरित्वेन समस्त-शास्त्रैः । जड़ भरत जैसा महापुरुष भगवान् के ही तुल्य है, क्योंकि अन्यो को ज्ञान प्रदान करने के कारण वह ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ पर जड़ भरत को भगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि माना गया है, क्योंकि वे परमेश्वर की ओर से ज्ञान प्रदान कर रहे थे। इसलिए महाराज रूहण ने यह निश्चित किया कि उन्हीं से आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में क्यों न पूछा जाये—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—यहाँ इस वैदिक आज्ञा की भी पुष्टि हो जाती है। यदि कोई ब्रह्म-जिज्ञासा (आत्मतत्त्व) जानने का इच्छुक है, तो उसे जड़ भरत जैसे गुरु के पास जाना चाहिए।

स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-

मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपि स्वित् ।

योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः

कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह भगवान् या उनका अवतार श्रीकपिल देव; वै—निस्संदेह; भवान्—आप; लोक-निरीक्षण-अर्थम्—इस संसार के लोगों के चरित्रों का अध्ययन करने के लिए ही; अव्यक्त-लिङ्गः—अपनी वास्तविक पहचान प्रकट किए बिना; विचरति—इस संसार में भ्रमण कर रहे हैं; अपि स्वित्—क्या; योग-ईश्वराणाम्—समस्त योगियों का; गतिम्—वास्तविक आचरण, चरित्र; अन्ध-बुद्धिः—मोहग्रस्त होने से आत्मज्ञान के प्रति अन्धे; कथम्—किस प्रकार; विचक्षीत—जान सकता है; गृह-अनुबन्धः—गृहस्थ जीवन या सांसारिकता में आसक्त रहने वाला, मैं।

क्या यह सच नहीं कि आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार कपिल देव के साक्षात् प्रतिनिधि हैं? मनुष्यों की परीक्षा लेने और यह देखने के लिए कि वास्तव में कौन मनुष्य है और कौन नहीं, आपने अपने आपको गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति प्रस्तुत किया है। क्या आप संसार भर में इसलिए नहीं इस रूप में घूम रहे? मैं तो गृहस्थ जीवन तथा सांसारिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त हूँ और आत्मज्ञान से रहित हूँ। इतने पर भी अब मैं आपसे प्रकाश पाने के लिए आपके समक्ष उपस्थित हूँ। आप बताएँ कि मैं किस प्रकार आत्मजीवन में प्रगति कर सकता हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि महाराज रहूगण राजा की भूमिका निभा रहे थे, किन्तु जड़ भरत ने उन्हें बता दिया था कि वे न तो राजा थे, न ही जड़ भरत कोई गूँगा-बहरा पुरुष था। ऐसी उपाधियां आत्मा के आवरण मात्र हैं। सबको इस ज्ञान तक पहुँचना है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में पुष्टि की गई है—*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, प्रत्येक प्राणी शरीर के भीतर बन्द है। चूँकि शरीर कभी आत्मा के समरूप नहीं हो सकता, अतः शारीरिक कार्य मात्र मोहजनित हैं। जड़ भरत जैसे साधु की संगति से महाराज रहूगण को यह बोध हो सका कि राजा के रूप में उनके सारे कार्य मोहजनित हैं। इसलिए उसने जड़ भरत से ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया और यही उसकी सिद्धि का शुभारम्भ था। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।* पुरुष को महाराज रहूगण की ही भाँति जड़ भरत के समान महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करके आत्मतत्त्व जानना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्* (*भागवत* ११.३.२१)। मनुष्य को चाहिए कि वह जड़ भरत जैसे गुरु के पास पहुँच कर मानव जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा करे।

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
 भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ।
 यथासतोदानयनाद्यभावात्
 समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दृष्टः—प्रत्येक प्राणी का अनुभव है; श्रमः—श्रम, थकान; कर्मतः—कोई भी काम करने से; आत्मनः—आत्मा का; वै—निस्संदेह; भर्तुः—पालकी वाहक या कहार का; गन्तुः—चलने वाले का; भवतः—आपका; च—तथा; अनुमन्ये—मेरा अनुमान

हैं; यथा—जितना; असता—असत से, जो तथ्य नहीं हैं, उससे; उद—जल का; आनयन-आदि—लाने इत्यादि का कार्य; अभावात्—अभाव से; स-मूलः—साध्य पर आधारित; इष्टः—पूज्य; व्यवहार-मार्गः—प्रत्यक्ष ज्ञान-विषयक।

आपने कहा कि, “मैं श्रम करने में थकता नहीं हूँ” यद्यपि आत्मा देह से पृथक् है, किन्तु शारीरिक श्रम करने से थकान लगती है और ऐसा लगता है कि यह आत्मा की थकान है। जब आप पालकी ले जा रहे होते हैं, तो निश्चय ही आत्मा को भी कुछ श्रम करना पड़ता होगा। ऐसा मेरा अनुमान है। आपने यह भी कहा है कि स्वामी तथा सेवक का बाह्य आचरण वास्तविक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष जगत में यह वास्तविकता भले न हो तो भी प्रत्यक्ष जगत पदार्थों से वस्तुएँ प्रभावित तो हो ही सकती हैं। ऐसा दृश्य तथा अनुभवगम्य है। अतः भले ही भौतिक कार्यकलाप अस्थायी हों, किन्तु उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य : यह निर्विशेष मायावाद दर्शन तथा व्यावहारिक वैष्णव दर्शन की विवेचना है। मायावाद दर्शन इस प्रत्यक्ष जगत को असत्य मानता है, किन्तु वैष्णव दर्शनशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। वे यह जानते हैं कि प्रत्यक्ष जगत क्षणिक है, किन्तु असत्य नहीं। रात्रि में दिखाई पड़ने वाला स्वप्न निश्चय ही असत्य होता है, किन्तु कभी-कभी स्वप्नद्रष्टा भयानक स्वप्न से अत्यधिक प्रभावित होता है। आत्मा की थकान सत्य नहीं, किन्तु जब तक मनुष्य मोहग्रस्त बना रहता है, तब तक वह ऐसे झूठे स्वप्नों से प्रभावित होता है। स्वप्न देखते समय वास्तविक तथ्यों से बचा नहीं जा सकता और बद्धजीव को अपने स्वप्न के कारण कष्ट भोगना पड़ता है। जल का घड़ा मिट्टी का बना होने से क्षणिक (नाशवान) है। वास्तव में जल का घड़ा (जल पात्र) नहीं होता, वह तो मात्र मिट्टी रहता है। किन्तु जब तक उसमें जल भरा जा सकता है, तब तक उसका सदुपयोग उस काम के लिए किया जा सकता है। इसे सरासर झूठ नहीं कह सकते।

स्थाल्यग्नितापात्ययसोऽभिताप-

स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।

देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्

तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स्थालि—पकाने का पात्र; अग्नि-तापात्—अग्नि के ताप से; पयसः—पात्र में भरा दूध; अभितापः—तप्त हो जाता है; तत्-तापतः—उसके ताप से, दूध के गर्म होने से; तण्डुल-गर्भ-रन्धिः—दूध में रहने से चावल का भीतरी भाग पक जाता है; देह-

इन्द्रिय-अस्वास्थ्य—इन्द्रियाँ; सन्निकर्षात्—से सम्बन्ध होने से; तत्-संयुति:—श्रम तथा अन्य कष्टों का अनुभव; पुरुषस्य—आत्मा का; अनुरोधात्—शरीर, इन्द्रियाँ और मन से अत्यधिक आसक्ति के कारण अनुरोध से।

राजा रहूगण आगे बोला—महाशय, आपने बताया कि शारीरिक स्थूलता तथा कृशता जैसी उपाधियाँ आत्मा के लक्षण नहीं हैं। यह सही नहीं है, क्योंकि सुख तथा दुख जैसी उपाधियों का अनुभव आत्मा को अवश्य होता है। आप दूध तथा चावल को एक पात्र में भर कर अग्नि के ऊपर रखें तो दूध तथा चावल क्रम से स्वतः तप्त होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक सुखों तथा दुखों से हमारी इन्द्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रभावित होते हैं। आत्मा को इस परिवेश से सर्वथा बाहर नहीं रखा जा सकता।

तात्पर्य : महाराज रहूगण ने जो तर्क प्रस्तुत किया वह व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, किन्तु यह देहात्मबुद्धि के प्रति आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है कि मोटरकार में बैठा व्यक्ति मोटरकार से सर्वथा पृथक् है, किन्तु यदि मोटरकार को कोई क्षति पहुँचती है, तो उसके स्वामी को अत्यधिक अपनेपन के कारण कष्ट पहुँचता है। वस्तुतः मोटरकार की क्षति का उसके स्वामी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु चूँकि इस स्वामी ने मोटरकार के साथ तादात्म्य बनाकर रखा है, अतः उसे सुख-दुख होता है। इस बद्धावस्था से बचने का उपाय है मोटरकार के प्रति अपनी आसक्ति को हटा लेना। तब उसके स्वामी को कार के क्षतिग्रस्त होने अथवा न होने से किसी प्रकार के शोक या हर्ष का अनुभव नहीं होगा। इसी प्रकार आत्मा का शरीर तथा इन्द्रियों से कोई प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को देह से अभिन्न मानकर शरीर के हर्ष-शोक से वैसा ही अनुभव करने लगता है।

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां

यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।

स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य

यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शास्ता—शासक; अभिगोप्ता—नागरिकों का शुभचिन्तक; नृ-पतिः—राजा; प्रजानाम्—नागरिकों का; यः—जो; किङ्करोः—आज्ञा पालने वाला; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; पिनष्टि पिष्टम्—पहले से पिसे हुए को पीसता है; स्व-धर्मम्—अपना कर्तव्य; आराधनम्—उपासना; अच्युतस्य—श्रीभगवान् की; यत्—जो; ईहमानः—करते हुए; विजहाति—मुक्त कर दिये जाते हैं; अघ-ओघम्—सभी प्रकार के पाप तथा दोषपूर्ण कर्म से।

महाशय, आपने बताया कि राजा तथा प्रजा अथवा स्वामी और सेवक के सम्बन्ध शाश्वत

नहीं होते। यद्यपि ऐसे सम्बन्ध अस्थायी हैं, तो भी जब कोई व्यक्ति राजा बनता है, तो उसका कर्तव्य नागरिकों पर शासन करना और नियमों की अवज्ञा करने वालों को दण्डित करना है। उनको दण्डित करके वह नागरिकों को राज्य के नियमों का पालन करने की शिक्षा देता है। पुनः आपने कहा है कि मूक तथा बधिर को दण्ड देना चर्वित को चर्वण करना या पिसी लुगदी को फिर से पीसना है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि इससे कोई लाभ नहीं होता। किन्तु यदि कोई परमेश्वर द्वारा आदिष्ट अपने कर्तव्यों के पालन में लगा रहता है, तो उसके पापकर्म निश्चय ही घट जाते हैं। अतः यदि किसी को बलपूर्वक उसके कर्तव्यों में लगा दिया जाये तो उसे लाभ पहुँचता है, क्योंकि इस प्रकार उसके समस्त पाप दूर हो सकते हैं।

तात्पर्य : महाराज र्हूगण द्वारा प्रस्तुत किया गया यह तर्क अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। श्रील रूप गोस्वामी अपने ग्रन्थ *भक्तिरसामृतसिंधु* (१.२.४) में कहते हैं कि—*तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णो निवेशयेत्*—जैसे भी हो सके, मनुष्य को कृष्णभावनामृत में लगाना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी श्रीकृष्ण का शाश्वत सेवक है, किन्तु विस्मृति के कारण वह माया का शाश्वत दास बन जाता है। जब तक वह माया की सेवा में लगा रहता है, उसे सुख नहीं मिल सकता। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगों को कृष्णभक्ति में लगातार रखना है। इससे वे समस्त प्रकार के भौतिक कल्मषों एवं पापकर्मों से मुक्त हो सकेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१०) में इस प्रकार की गई है—*वीत-राग-भय-क्रोधाः।* भौतिक कार्यों से विरक्त होने पर हमें भय तथा क्रोध से छुटकारा मिलेगा। तपस्या से मनुष्य शुद्ध होकर परम धाम वापस जाने का अधिकारी बन जाता है। राजा का कर्तव्य है कि अपनी प्रजा पर इस प्रकार शासन करे कि वह कृष्णचेतनायुक्त हो सके। यह सबों के लिए लाभप्रद होगा। दुर्भाग्यवश राजा या राष्ट्रपति जनता को ईश्वर की सेवा के बजाय इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु यह किसी के लिए भी लाभप्रद नहीं। महाराज र्हूगण ने अपनी पालकी ढोने के लिए जड़ भरत को लगाया था, जो राजा के लिए एक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति ही था। किन्तु यदि कोई भगवान् की सेवा में पालकी उठाने वाला कहार बनता है, तो वह निश्चित रूप से लाभप्रद है। यदि नास्तिक सभ्यता में कोई राष्ट्रपति अपनी जनता को किसी प्रकार से भक्ति या कृष्णभावनामृत जगाने के प्रति उन्मुख कर सके तो वह नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ सेवा करता है।

तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-

मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।

कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो

यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझ पर; भवान्—आप; नर-देव-अभिमान-मदेन—राजा की देह पाने के अभिमान से उन्मत्त; तुच्छीकृत—अवज्ञा करने वाले; सत्-तमस्य—मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ आपका; कृषीष्ट—कृपया प्रदर्शित करें; मैत्री-दृशम्—मित्र के समान मुझ पर अपनी अहैतुकी कृपा; आर्त-बन्धो—दीनों का साथी; यथा—जिस प्रकार; तरे—मुक्त हो सकूँ; सत्-अवध्यानम्—आप जैसे महापुरुष की उपेक्षा करने के; अंहः—पाप से।

आपने जो भी कहा है उसमें मुझे विरोधाभास लगता है। हे दीनबन्धु, मैंने आपको अपमानित करके बहुत बड़ा अपराध किया है। राजा का शरीर धारण करने के कारण मैं झूठी प्रतिष्ठा से फूला हुआ था, अतः इसके लिए मैं अवश्य ही अपराधी हूँ। अब मेरी प्रार्थना है कि मुझ पर अहैतुक अनुग्रह की दृष्टि डालें। यदि आप ऐसा करें तो आपका अपमान करके मैंने जो पापकर्म किया है उससे मुक्त हो सकूँगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि वैष्णव के प्रति अपराध करने वाले के समस्त परमार्थिक कार्य नष्ट हो जाते हैं। वैष्णव-अपराध प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध के तुल्य है। प्रमत्त हाथी अत्यन्त श्रम से तैयार किये गये सारे उद्यान को विनष्ट कर सकता है। मनुष्य को भक्ति का कितना ही उच्च पद क्यों न प्राप्त हो, किन्तु यदि वह किसी प्रकार वैष्णव की अवमानना करता है, तो सारी व्यवस्था बिखर जाती है। राजा रहूगण ने अनजाने जड़ भरत की अवमानना की, किन्तु जब उसे ज्ञान हुआ तो उसने क्षमा-याचना कर ली। यही वह विधि है, जिसके द्वारा वैष्णव-अपराध से छूटा जा सकता है। कृष्ण अत्यन्त सरल एवं स्वभाव से कृपालु हैं। यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, तो मनुष्य को तुरन्त उससे क्षमा माँग लेनी चाहिए जिससे आत्म-प्रगति न रुके।

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य

साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।

महद्विमानात्स्वकृताद्धि मादृङ्

नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विक्रिया—भौतिक परिवर्तन; विश्व-सुहृत्—प्रत्येक प्राणी के मित्र, श्रीभगवान् का; सखस्य—मित्र (आप) का; साम्येन—आपके मानसिक सन्तुलन के कारण; वीत-अभिमते:—जिसने जीवन के देहात्मबोध को सर्वथा त्याग दिया है; तव—तुम्हारा; अपि—निस्सन्देह; महत्-विमानात्—महान् भक्त का अपराध करने से; स्व-कृतात्—मेरे अपने कार्य से; हि—निश्चित रूप से; मादृक्—मुझ जैसा व्यक्ति; नदृश्यति—विनष्ट हो जाएगा; अदूरात्—शीघ्र ही; अपि—निश्चय ही; शूल-पाणि:—भगवान् शिव (शूलपाणि) के समान शक्तिशाली होकर भी।

हे स्वामी, आप समस्त जीवात्माओं के मित्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सखा हैं। अतः आप सबों के लिए समान हैं और देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त हैं। यद्यपि मैंने आपकी अवमानना करके अपराध किया है, किन्तु मैं जानता हूँ कि मेरे इस तिरस्कार से आपको कोई हानि या लाभ नहीं होने वाला है। आप दृढसंकल्प हैं जबकि मैं अपराधी हूँ। इसलिए भले ही मैं भगवान् शिव के समान बलवान् क्यों न होऊँ, किन्तु एक वैष्णव के चरणकमल पर अपराध करने के कारण मैं तुरन्त ही नष्ट हो जाऊँगा।

तात्पर्य : महाराज रहूगण अत्यन्त बुद्धिमान थे और वैष्णव के प्रति किये गये अपराध के अशुभ फलों से भली-भाँति परिचित थे। अतः वे जड़ भरत द्वारा क्षमा किये जाने के लिए अत्यन्त व्यग्र थे। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए महाराज रहूगण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वैष्णव के चरणकमल पर अपराध न करे। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर *चैतन्यभागवत* (मध्य १३) में कहते हैं—

शूलपाणि-सम यदि भक्त-निन्दा करे।

भागवत प्रमाण—तथापि शीघ्र मरे ॥

हेन वैष्णवेरे निन्दे सर्वज्ञ हइ।

से जनेर अध:-पात सर्व-शास्त्रे कइ ॥

“यदि कोई वैष्णव की निन्दा करता है, तो वह त्रिशूलधारी भगवान् शिव के समान शक्तिशाली होने पर भी अपने आत्म-पद से गिर जायेगा। यह समस्त वैदिक शास्त्रों का निर्णय है।” उन्होंने *चैतन्यभागवत* (मध्य २२) में यह भी कहा है—

वैष्णवेरे निन्दा करिबेक यार गण।

तार रक्षा सामर्थ्य नाहिक कोन जन ॥

शूलपाणि-सम यदि वैष्णवेरे निन्दे।

तथापिह नाश याय—कहे शास्त्र-वृन्दे ॥

इहा ना मानिया ये सुजन निन्दा करे।

जन्मे जन्मे से पापिष्ठ दैव-दोषे मरे ॥

“जो वैष्णव की निन्दा करता है उसे कोई नहीं बचा सकता। चाहे वह भगवान् शिव के समान बलशाली क्यों न हो, यदि वह वैष्णव की निन्दा करता है, तो उसका विनाश होना ही है। यही समस्त शास्त्रों का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रों के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है, तो उसका विनाश निश्चित है। यही समस्त शास्त्रों का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रों के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है, तो इसके कारण वह जन्म-जन्मांतर तक कष्ट भोगता है।”

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत “जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता” नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।